प्राचीन भारत में समाजशास्त्र (Sociology in Ancient India)

भारत में सामाजिक अध्ययन का व्यवस्थित इतिहास आज से कम से कम चार हजार वर्ष पुराना है जबकि वैदिककाल में ही सामाजिक जीवन और मानवीय सम्बन्धों का सूक्ष्म अध्ययन करके व्यापक व्यवस्थाओं का निर्माण कर लिया गया था। इस काल में व्यक्ति के व्यवहारों और सामाजिक सम्बन्धों के रूप का निर्धारण नहीं किया गया बल्कि वर्णाश्रम व्यवस्था, कर्म, पुनर्जन्म, संयुक्त परिवार, ग्रामीण गणतन्त्र तथा विभिन्न वर्ग के अधिकारों आदि की भी व्यापक विवेचना करके समाज को संगठित बनाने में सफलता प्राप्त कर ली गयी थी।

प्राचीन भारत में वैदिक परम्परा को अधिक स्पष्ट रूप देने के लिए उपनिषदों की रचना की गयी। इस समय यह स्वीकार किया गया कि व्यक्तिवादिता और भौतिकता के द्वारा समाज को अधिक समय तक संगठित नहीं रखा जा सकता। इस दृष्टिकोण से आध्यात्मिक दर्शन और पारलौकिकता को आधार मानकर व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण किया गया। भारत के समाजशास्त्रीय इतिहास का यह एक 'बौद्धिक काल' था जिसमें जीवन के महत्वपूर्ण लक्ष्य सुनिश्चित कर लिए गये थे।

ईसा के लगभग एक हजार वर्ष पहले हमारे समाज में परिवर्तन की एक नयी प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। ऐसे परिवर्तनों पर रोक लगाने के लिए एक ऐसी समाजिक व्यवस्था की आवश्यकता महसूस की जाने लगी जो लोक-

कल्याणकारी होते हुए भी परिवर्तन को प्रोत्साहित न करे। इसके फलस्वरूप सभी वर्णों को एक-दूसरे से पृथक् कर दिया गया। इस समय अनुलोम विवाह के नियम का व्यापक प्रचार किया गया और सभी वर्णों को अपने क्षेत्र के अन्दर ही सामाजिक सम्पर्क रखने की अनुमति प्रदान की जाने लगी। यह युग वास्तव में राजनीतिक अस्थिरता का युग था। इसके फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था में जो परिवर्तन किये गये वे प्रगतिशील न रहकर अन्त में हमारी प्रगति में बाधक बन गये। ऐसा प्रतीत होता है कि, इस समय अन्तर्विवाह, अनुलोम और जाति-संघ के जो नियन्त्रण लगाये गये वे केवल निहित स्वार्थ-समूहों द्वारा 'शक्ति पर एकाधिकार' बनाये रखने की भावना के कारण इन नियन्त्रणों ने स्थायी रूप ग्रहण कर लिया।

भारत में सामाजिक अध्ययन और सामाजिक व्यवस्थाओं के रूपान्तरण का इतिहास यहीं समाप्त नहीं हो जाता। इसके लगभग 270 वर्ष पहले मौर्य युग में कौटिल्य ने एक बार पुनः सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के प्रयत्न किये जिनका उल्लेख 'कौटिल्य के अर्थशास्त्र' में मिलता है। मौर्य युग के बाद भारत में जिस सामाजिक व्यवस्था का निर्माण किया गया, वह पूर्णरूप से बन्द (Closed) और वर्ण-विभाजन की नीति पर आधारित थी। यद्यपि इस व्यवस्था के निर्माण में मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर और नारद जैसे स्मृतिकारों का महत्वपूर्ण हाथ रहा लेकिन

मूल रूप से इसकी स्थापना मनु द्वारा की गयी। इनके द्वारा रचित मनु-स्मृति वह दृढ़ आधार है जिसके द्वारा भारतीय समाज के भावी रूप का निर्धारण हुआ। यद्यपि आज अधिकांश सामाजिक विचारक मनुस्मृति को एक प्रतिक्रियावादी और पक्षपातपूर्ण रचना मानते हैं लेकिन एक समाजशास्त्री के रूप में हमारा उद्देश्य इसके गुण-अवगुण पर अधिक ध्यान न देकर केवल यह देखना है कि इसके अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था को कैसा रूप देने का प्रयत्न किया गया। समाजशास्त्रीय रूप से मनुस्मृति सामाजिक ज्ञान का विस्तृत भण्डार है, जिसमें व्यक्ति तथा समाज, वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, आश्रम, संस्कार, विवाह, परिवार, राज-व्यवस्था, न्याय और धर्म की व्यापक विवेचना की गयी है। मनु ने अपने व्यापक अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति स्वयं में पूर्ण नहीं हो सकता बल्कि वह सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का एक अंग मात्र है।

वास्तविकता यह है कि हमारे सामाजिक जीवन का कोई भी अंग ऐसा नहीं है जिसका तत्कालीन विद्वानों ने अध्ययन न किया हो। इसके उपरान्त भी प्राचीन भारत में जो सामाजिक अध्ययन किये गये हैं उन्हें अनेक आधारों पर 'समाजशास्त्रीय अध्ययन' कहने में आपत्ति की जाती है।

(1) सर्वप्रथम वैदिककाल से लेकर स्मृतिकाल तक के सभी सामाजिक अध्ययनों का आधार धार्मिक है, सामाजिक नहीं। ऐसी स्थिति में इन्हें

पूर्णतया समाजशास्त्रीय कहना उचित नहीं है।

(2) प्राचीन भारत की सभी सामाजिक व्यवस्थाओं में किसी न किसी वर्ग की पक्षपातपूर्ण मूल्यांकृति निहित रही है।

(3) विभिन्न धर्मशास्त्रों के कथन परस्पर-विरोधी हैं जिनके कारण स्पष्ट रूप से यह ज्ञात किया जा सकता है कि किस अवधि में कौन-सी व्यवस्था को जनसामान्य का अधिक समर्थन प्राप्त था। इस स्थिति के कारण भी तत्कालीन अध्ययनों को समाजशास्त्रीय परिधि में लाना बहुत कठिन हो जाता है।